P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6 * ISSUE-6 * (Part-1) February- 2019
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

नवाब युगीन अवध में सूती वस्त्र कुटीर उद्योग एवं हस्तशिल्प कला

संगीता गुप्ता
असिस्टेंट प्रोफेसर
चित्रकला विभाग
एम.एच. (पी.जी.) कालेज
मुरादाबाद,उ0.प्र0, भारत

सारांश

अवध का क्षेत्र अपनी धार्मिक सांस्कृतिक, साहित्यिक, संगीत एवं कलात्मक विरासत के लिए विख्यात रहा है। यहाँ की स्थापत्य कला, लोक कला, हस्तशिल्प कला, कुटीर उद्योगों की अलग पहचान रही है। मुगल शासन के पतन के बाद कलाकारें एवं शिल्पकारों ने आश्रय एवं जीविकोपर्जन के लिए अवध की ओर प्रस्थान किया एवं उसे अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति का केन्द्र बनाया। अवध के नबावों का प्रोत्साहन पाकर यहाँ के दस्तकारों एवं शिल्पकारों ने सूती वस्त्र कुटीर उद्योग (विशेषकर जामदानी, अंगरखे, टोपी, मलमल आदि) एवं हस्तशिल्प कला (बीदरी पात्र, मिट्टी के खिलौने एवं सिक्कों आदि) में नवीन प्रयोग किये। कलाकारों के इन प्रयोगों ने लखनऊ की कलात्मक संस्कृति को एक नया आयाम दिया और उसे विश्वविख्यात बना दिया।

मुख्य शब्द : जामदानी, चिकन, जरदोजी, बीदरी पात्र, कामदानी, सिक्के, आबखोरे।

प्रस्तावना

अवध अपने घरेलू एवं कुटीर–उद्योगों के लिए प्राचीन समय से विख्यात रहा है। 17वीं शती में अवध के किमखाब (बेल बूटेदार सूती कपड़ा), के थानों को एकत्रित करने और ब्रिटेन भेजने के उद्देश्य से एक कारखाना लखनऊ में खोला गया था, जो कि दरियाबाद, खैराबाद और कुछ अन्य स्थानों पर बुने जाते थे। अंग्रेज व्यापारी इन्हें दरियाबादस, खैराबादस और अकबरीज कहते थे। पश्चिमी अवध में ''मरकौनी'' नामक वस्त्र बुना जाता था।[1] इसे भी कम्पनी मोल लेती थी। 18वीं शताब्दी में अवध के नवाबों का प्रश्रय प्राप्त करके ये उद्योग और अधिक उन्नत हुए एवं विश्वख्याति प्राप्त की। यहाँ का सूती वस्त्र कुटीर–उद्योग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की काशीदाकारी, किनारी बनाने का काम, चिकन का काम, गोटे और हाथी दाँत के काम और स्वर्ण व रजत के तारों के अलंकरण को बुनने का काम प्रमुख है। इसके अलावा अवध के 'बीदरी पात्र' मिट्टी के बर्तन एवं खिलौने की अलग पहचान है। नवाबयुगीन सिक्कों में अवध की गंगा–जमुनी तहजीब प्रतिबिम्बित होती है।

शोध पत्र का उद्देश्य

इस शोध पत्र का उद्देश्य नवाब–युगीन अवध में प्रचलित सूती वस्त्र कुटीर–उद्योग एवं हस्तशिल्प कला का प्रादुर्भाव एवं विकास यात्रा का विवेचनात्मक अध्ययन करना है। इस विवेचना में इस बात पर भी प्रकाश डालना है कि अवध में कुटीर–उद्योग एवं हस्तशिल्प के उन्नति के क्या कारण थे? मुगल शासन के पतन के बाद अवध को ही शिल्पकारों ने अपना आश्रय स्थल क्यों बनाया? इसक अलावा कई हस्तशिल्प उत्पादों, निर्माण की प्रक्रियाओं का वर्णन करना है, जिसमें उनकी तकनीकी सूक्ष्मताओं का अध्ययन किया जा सके, इसमें जामदानी एवं बीदरी पात्र प्रमुख हैं।

साहित्यालोकन

भारत में कृषि के बाद, दूसरा सबसे बड़ा उद्योग वस्त्रों के निर्माण एवं हस्त शिल्प का रहा है इसलिए भारत के विभिन्न क्षेत्रों में वस्त्रों की बुनाई एवं कढ़ाई का कुटीर–उद्योग उन्नत अवस्था में था। इस सन्दर्भ में अवध के सूती वस्त्र कुटीर –उद्योग और हस्तशिल्प कला ने विश्व व्यापी ख्याति प्राप्ति की। इन उद्योगों से जुड़ा हुआ साहित्य भी पर्याप्त रुप में विद्यमान है। टी0एन0 मुखर्जी ''आर्ट मैनुफैक्चर्स ऑफ इण्डिया'', कलकत्ता (1888) में अवध कि हस्तशिल्प कला की तकनीकी सूक्ष्मताओं का उल्लेख किया गया है। अब्दुल हलीम 'शरर' ''गुजिश्ता लखनऊ'' (1890) में अवध में मिट्टी के बर्तनों खिलौनों एवं मूर्तियों की विशेषताओं एवं सुन्दरता की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। सी0एम0 जार्ज ,''दि

इण्डस्ट्रियल आर्ट ऑफ इण्डिया, (1880), में सूती वस्त्र, विशेषकर 'जामदानी' की वर्णन किया है। इसके अलावा सूती वस्त्रों की 'जामदानी' चिकन एवं अन्य वस्त्रों का वर्णन आर्शीवादी लाल श्रीवास्तव (''अवध के प्रथम दो नवाब,1943), पुपुल जयकर ("कॉटन जामदानी ऑफ टाडा एण्ड बनारस''1959) देवकी अहिवासी, (''मलमल जामदानी ''–1977), अमीर हसन (''पैलस कल्चर ऑफ लखनऊ, 2012) ने अपने पुस्तकों एवं लेखों मे किया है। वासुदेव उपाध्याय, ("भारतीय सिक्के", प्रयाग 1970) डब्लू0 एच0 वालेटिना ("कॉपर क्वाइंस ऑफ इण्डिया", लन्दन,1914) ने नवाब युगीन सिक्कों एवं धातु के पात्रों के बनाने की तकनीकी का वर्णन किया है। ''दि आर्ट ऑफ चिकन कारी'' आरकाइब्ड फ्राम दि ओरिजनल , अगस्त 2014, में लखनऊ की चिकनकारी की विशेषताओं का उल्लेख है। इस शोध पत्र में एक समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाकर अवध सूती वस्त्र –कुटीर उद्योग एवं हस्तशिल्प कला का विवेचनात्मक अध्ययन किया गया है।

अवध का सूत्राी वस्त्र कुटीर–उद्योग

मुगल शासन के पतन काल में जब दिल्ली और दूसरे स्थानों से जब चित्रकार, वास्तुकार, कवि आदि अवध की राजधानी में एकत्रित हो रहे थे, सम्भवतः उनके साथ दस्तकारों–शिल्पकारों के कुछ एक समूह भी जीविका की प्रत्याशा में यहाँ पहुँचे। उनके आगमन से यहाँ के पूर्व प्रचलित कुटीर उद्योगों के उत्पादन और उनकी विशिष्टताओं में किंचित परिवर्तन हो गया। यह भी सम्भव है कि ये सूती वस्त्र उद्योग यहाँ पहले से ही स्थापित थें। नवाबों की रुचियों और उनके प्रोत्साहन ने उन्हें विकसित होने में विशेष योगदान दिया। नवाबों की रुचियों और उनके प्रोत्साहन ने उन्हें विकसित होने में विशेष योगदान दिया। नवाबों की रुचियाँ अत्यन्त परिष्कृत और उच्चकोटि की थी, जिनके अनुरुप ही यहाँ के उद्योगों में उत्पादन होता था। मुगलों की अपनी परिष्कृत रुचियों और सौन्दर्य बोध के प्रति अपनी सूक्ष्मता के फलस्वरूप ही सूती वस्त्रों में मलमल का विकास हुआ। लखनऊ के उद्योग धन्धों में सर्वप्रथम सूती वस्त्र उद्योग का नाम आता है। सूती वस्त्रों में मलमल प्रमुख है। अवध के नवाबी प्रश्रय ने मलमल जामदानी के अनेक केन्द्र विकसित किये, जिनमें लखनऊ के अतिरिक्त ढाका, जायस और टांडा महत्वपूर्ण हैं। नवाबों के पतन के साथ ही वे अवनति को प्राप्त हो गये। लखनऊ में हथकरघा उद्योग अत्यन्त विकसित अवस्था में था, किन्तु अंग्रेजी वस्त्रों के प्रसार ने देशी माल को बाजार से निकाल फेंका, जिसके परिणामस्वरूप बड़ी मात्रा में जुलाहें अन्य स्थानों को जा बसे एवं कुछ ने अन्य उद्योग अपना लिए।[2]

सूती वस्त्रों में सबसे बहुमूल्य वस्त्र ''मलमल'' कहलाता है। मलमल का अंग्रेजी शब्द ''मसलिन'' है। वर्डबुड के अनुसार ''मोसुल'' (इराक) नामक शहर के नाम पर इस वस्त्र का नाम मसलिन पड़ा। इतालवी यात्री मार्कोपोलों ने मोसुल राज्य के विषय में लिखा है– कि यहाँ सभी प्रकार के सोने–चाँदी के काम के कपड़े, जो कि ''मोसोलिनस'' कहलाते हैं, बनते हैं। यद्यपि यहाँ ''मोसोलिन'' शब्द महीन सूती कपड़े के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मोसुल ने बड़ी मात्रा में मजबूत सूती कपड़ा ही बनता था, जो स्थान के नाम पर मोसोलीन कहलाता था। अरबी भाषा में ''मोसिल्ली'' शब्द महीन कपड़े के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[3]

टांडा की जामदानी

सूती वस्त्रों में जामदानी सर्वोत्कृष्ट और अद्वितीय उत्पादन है। ''जामदानी'' शब्द बेलबूटे काढ़ने या कशीदाकारी के लिए प्रयुक्त होता है, अर्थात वह मलमल जिस पर अलंकरण हो, जामदानी कहलाता है। ''डॉ. मोतीचन्द्र'' ने ''प्राचीन भारतीय वेशभूषा'' नामक अपने लेख में लिखा है– ''चित्र– विरालिस या पिक्चर मसलिन और पुष्पपट्ट या फूल वस्त्र को प्राचीन पुस्तकों में जामदानी वस्त्र कहते हैं।''[4] अवध के आलावा ढाका व टाण्डा की जामदानी सबसे अच्छी और प्रसिद्ध है जिसमें टाण्डा का जामदानी उत्पादन उत्कृष्ट माना जाता है। टाण्डा फैजाबाद जिले का एक छोटा सा कस्बा है। सम्राट अकबर ने इसका नाम ''खासपुर टांडा'' रक्खा था। सम्भवतः 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में बनारस से जुलाहे टांडा जाकर आबाद हो गये एवं सूती वस्त्र बनाने का कार्य प्रारम्भ किया।[5] वैसे नवाब सआदत अली खाँ का नाम टांडा में सूती वस्त्रों के उत्पादन को विकसित और उन्नत करने में लिया जाता है। नवाबों ने जामदानी को इतना अधिक पसन्द किया कि अंगरखे फूलों वाली जामदानी से ही बनने लगे और यही उनकी वेशभूषा हो गयी। सबसे पहले जामदानी में फूलों के साथ ही पशु–पक्षियों का भी अलंकरण होता था किन्तु नवाबों की रुचि के अनुसार उसकी बुनाई परिवर्तित हो गयी और पशु–पक्षी विलीन होकर मात्रा फूलों की बेले और बूटियाँ ही जामदानी की विशेषता हो गयी।

ढाका में सफेद धागों के साथ रंगीन व सुनहरे धागों का प्रयोग अलंकारों को उभारने के लिए किया जाता था जो दिखने में आकर्षक प्रतीत होते थे। यहाँ वस्त्रों में सफेद जमीन रंगीन और पीले धागों का प्रयोग अलंकारों के लिए किया जाता था। इसके विपरीत टाण्डा में, जहाँ सर्वोत्कृष्ट जामदानी का उत्पादन होता था, रंगीन और पीले धागे कभी नहीं प्रयुक्त होते थे। बुनने की विधि में भी दोनों स्थानों में भिन्न तकनीक का प्रयोग किया जाता था। टाण्डा में अलंकार को बुनते समय धागों को काटते नहीं थे, बल्कि उसे एक सिरे पर छोड़ते जाते थे, फिर दूसरे अलंकार को बुनने के लिए यह छूटा हुआ सूत ही प्रयुक्त होता था या फिर वस्त्र के पूरे अर्ज में जितनी बूटियाँ बनानी होती थी, उन सबके लिए अलग–अलग सूत लपेटी हुई तिल्लियों का प्रयोग किया जाता था।[6] जिससे सूते को काटे बिना ही सभी अलंकरण बुन लिए जाते थे। इस प्रकार दोनों सिरों पर सूत के न कटने से अलंकरण न तो ढीला पड़ता था और न ही उसके उधड़ने की सम्भावना रहती थी। दोनों स्थानों के अलंकरण में भी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। ढाका में मोटे सूत का प्रयोग होने से अलंकरण उभरे हुए से बनते थे, जबकि टाण्डा में फूल–पत्तियों के अलंकरण में महीन सूत के प्रयोग के साथ बारीकी का भी ध्यान रखा जाता था।

इस प्रकार टाण्डा की जामदानियाँ अपनी विशिष्टता के कारण अलग से ही पहचानी जाती हैं। यहाँ

मुख्य रुप से अंगरखा बुना जाता था जो उस समय की नवाबी वेशभूषा थी। अंगरखे के अतिरिक्त जामदानी की साड़ियाँ, टोपियाँ भी बुनी जाती थी। ''भारत कला भवन'', वाराणसी में टाण्डा की बुनी दोपल्ली टोपियाँ है, जिन पर बटनहोल स्टिच से अत्यन्त सूक्ष्म बेलकारी की गयी है। अलंकार फूलों की बेलों के होते थे, जिन्हें सीधे आड़े, तिरछे विभिन्न प्रकार से बुना जाता था। चमेली, मोगरा, गेंदा, इश्क पेचा, हरसिंगार, जूही आदि के अलंकरण अधिकांश प्रयुक्त होते थे।[7] ''राजकीय संग्रहालय लखनऊ'' में जामदानी के एक नमूने में फूल–पत्तियों के मध्य शाही प्रतीक 'ताज' का अंकन है। एक और नमूने में गोलाकार बूटियों के मध्य ''ताज'' का अलंकरण है, साथ ही दोनो ओर मत्स्य कन्यायें भी बनी हैं।[8] वस्त्रों की बुनाई के अतिरिक्त उनकी सिलाई भी कारीगरी के हस्त–लाघव की प्रमाण है। भारत कला भवन, वाराणसी के संग्रहालय में जामदानी के अंगरखे, जामें आदि देखे जा सकते हैं जिनकी सिलाई इतनी महीन है और टाँके इतने सूक्ष्म हैं कि दृष्टि में देख पाने में असमर्थ सिद्ध होती है। अंगरखे की तनी, जो सीने पर दूसरे दामन से बाँधी जाती थी, उसे एक कच्चे सूत के बराबर पतला सीकर उलट दिया जाता था जो स्वयं में एक आश्चर्य है।

फूलदार मलमल में प्रति इंच 90 से 120 छोर ताने में और बाने में 80–110 सिरे होते थे। मलमल के लिए कहा जाता है कि लगभग 100 वर्ष पूर्व तक इतनी मुलायम और उत्कृष्ट कोटि की मलमल हाथों से बुनी जाती थी कि कनिष्ठा उँगली की अंगूठी के बीच में पूरा का पूरा थान निकल जाता था। इस तरह के मलमल की खपत मुख्य रुप से रईसों और नवाबों में होती थी। ''पैलेस कल्चर आफ लखनऊ'' पुस्तक के एक स्थान पर बादशाह गाजीउद्दीन हैदर की बेगमों की वेशभूषा का उल्लेख हुआ है, जिससे स्पष्ट होता है कि पुरुष अंगरखे के अतिरिक्त जनाने वस्त्र भी मलमल जामदानी से निर्मित होते थे ''बेगमें कुर्ती पहनती थी, जो कि शरीर के ऊपरी हिस्से में पहनी जाती है। बेगमें साटिन के बने चटकीले पाजामें पहनती थीं। सोने–चाँदी के कामयुक्त बन्ध कमर में बँधे होते थे, जेवरात कुर्ती में से दिखाई देते थे, दुपट्टा जो कि एक बेहद अच्छे कपड़े ढाका की बनी मलमल का होता था, शरीर के ऊपरी भाग को ढकता था।[9]

अवध के नवाबों के पतन के बाद मलमल जामदानी का यह प्रसिद्ध केन्द्र उचित संरक्षण के अभाव में समाप्त होने लगा। टाण्डा की जामदानी उद्योग के विषय में एच.आर. नेविली ने प्रकाश डालते हुए कहा है कि 18वीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रतिनिधियों द्वारा टाण्डा में एक व्यापारिक केन्द्र स्थापित किया गया। इस उद्योग में देशी जुलाहों के रोजगार को व्यापक रुप से प्रभावित किया।[10]

जायस की जामदानी

ढाका और टाण्डा के अतिरिक्त अवध के नवाबों के उदार प्रश्रय ने रायबरेली जिले के अन्तर्गत ''जायस'' नामक स्थान को भी मलमल जामदानी का उत्पादन केन्द्र बना दिया था। पुरानी डिस्ट्रक्स रिपोर्ट के अनुसार भीखा नामक एक शिल्पकार ने जायस में जामदानी उद्योग की स्थापना की थी। काफी प्रयासों के बाद वह मलमल में फूल–पत्तियों को एवं अक्षरों को बुनने में सफल हुआ था। उसने नवाब आसफुद्दौला को एक पगड़ी और कुर्ता भेंट में दिया, जिसमें नवाब के यश और गुणों की प्रशंसा बुनकर लिखी गयी थी। इससे प्रसन्न होकर नवाब ने भीखा को बहुत बड़ी मात्रा में भूमि तथा सम्पत्ति पुरस्कार स्वरुप दी।[11]

19वीं शताब्दी में जब ढाका, टाण्डा और जायस और दूसरी जगहों में सूती वस्त्र उद्योगों का पतन हो रहा था उस समय जायस में जामदानी का एकमात्र कुशल कारीगर ''मदार बक्श'' बचा था, जिसे भीखा के वंश का बताया जाता है।[12] मदारबक्श मूल रुप से रुमाल और चौकारा बनाता था, जिनमें विभिन्न प्रकार के अलंकारों के साथ ही अरबी फारसी के अक्षर या आयत आदि बुनकर लिखता था। उसके बनाये जामदानी के अत्यन्त उत्कृष्ट नमूने 1883–84 की कलकत्ता प्रदर्शनी में तथा 1836 की ''कालोनियल प्रदर्शनी'' में रखे गये थे। वर्डवुड ने जायस के बुनकरों की प्रशंसा में लिखा है कि– ''यहाँ महीन मलमल तन्जेब बुनी जाती थी तथा प्रत्येक प्रकार का अलंकरण यहाँ के कारीगर बुन सकते थे। फूल–पत्तियों के अतिरिक्त वे कुरान और वेदों की आयतें और मन्त्र भी वस्त्रों पर बुनकर लिख देते थे।[13] लखनऊ सूती वस्त्रों की बुनाई एवं रंगाई का एक प्रमुख केन्द्र था। यहाँ के मलमल में तर्रदाम, शरबती और अद्धी विशिष्ट थे जो केसर से रंगे जाते थे। लखनऊ में जामदानी और मलमल बुनने का काम प्रमुख रुप से महमूद नगर में होता था। यहाँ सीधी धारियों वाली जामदानी भी बुनी जाती थी, जिसे ''डेरिया'' कहते थे।

अवध का चिकन उद्योग

लखनऊ का एक प्रमुख उत्पादन चिकन है जो विशेष रूप से विख्यात है कहा जाता है कि लखनऊ की इस चिकन कढ़ाई ने नवाबों के हरम में ही जन्म लिया था। नवाब की कई बेगमों में से एक मुर्शिदाबाद की थी, जो चिकन के काम के लिए प्रसिद्ध था उस बेगम ने हरम की जिन्दगी से ऊब कर एक चिकन की टोपी बनायी और उसे नवाब को भेंट किया। इस कार्य को धीरे–धीरे दूसरी बेगमों और बाँदियों ने अपना लिया और उसमें अपनी कल्पना के अनुसार भिन्नता आयी। समय के साथ यह कला हरम से बाहर आयी और इसने उन्नतशील दस्तकारी के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की।[14] सूती या अन्य वस्त्रों पर बेलबूटों को उभारने या काढ़ने को ''चिकनकारी'' कहते हैं।[15]

चिकन की एक मात्र विशेषता सूती या अन्य वस्त्रों पर कच्चे सूत से अलंकरणों को उभारा जाना है। कार्य इतनी कुशलता से किया जाता है कि वस्त्र की शोभा द्विगुणित हो जाती है ''भारत कला भवन'' वाराणसी में अद्धी मलमल का एक अंगरखा है जिस पर चिकन की महीन जाली का बेहतरीन काम है। अलंकार में अंगूर की बेल में ''फ्रेन्च नाट'' की तरह की गाँठे हैं। सफेद वस्त्र पर हल्के पीले रंग से ''चेन स्टिच'' का प्रयोग है जिससे कंगूरे और बूटे उभारे गये हैं, यह तीन पत्तियों का अलंकरण है। एक अन्य वस्त्र में चिकनकारी में तेपची स्टिच का प्रयोग है। जाली और बूटे इतनी कुशलता से बुने गये हैं कि जामदानी की कशीदाकारी का भ्रम होता

है। इसी प्रकार के उत्कृष्ट चिकन के काम के वस्त्रों का अच्छा संग्रह राजकीय संग्रहालय लखनऊ में है।

चिकनकारी का सबसे अच्छा टांका मुर्री कहलाता है। इनमें बूटे जमीन से उभरे हुए बनते हैं। ''भारत कला भवन'' संग्रहालय वाराणसी में एक सूती वस्त्र पर मुर्री का अत्यन्त उच्च कोटि का काम है। दानेदार बूटियों के मुर्री के साथ ''शैडो वर्क है। ''एपलिक'' का काम जिसमें ''मोर'' की रचना की गयी है। ''एपलिक'' काम में वस्त्र के छोटे–छोटे टुकड़े काटकर जोड़े जाते हैं। इसके दस्तकारों में स्त्रियों की संख्या अधिक है। कुछ पुरुषों ने भी इस क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त की है जिसमें एक उस्ताद ''मुन्नेमिर्जा'' है। ''हसन मिर्जा साहब'' भी महीन से महीन वस्त्र में सुई को बिना पार किये टाँके लगाने में प्रसिद्धि प्राप्त थे।[16]

जब चिकनकारी में कच्चे सूत के स्थान पर स्वर्ण एवं रजत के तारों का प्रयोग सूती या रेशमी वस्त्रों पर किया जाता है तब वह ''कामदानी'' कहलाती है और जब मलमल पर इसका प्रयोग किया जाता है तब उसे ''जरदोजी'' कहते हैं। बहुत पहले लखनऊ में ''कामदानी'' और ''जरदोजी'' का काम होता आ रहा है जिसमें फूल–फलों और सितारों के अलंकरण काढ़े जाते हैं।

अवध की चिकनकारी

19वीं शताब्दी के अन्त तक उपरोक्त सभी उद्योग अपनी विकसित अवस्था में थे और इनकी ख्याति दूर–दूर तक थी लेकिन अंग्रेजों ने अपने कारखाने लगाकर इन धन्धों को ठप्प कर दिया। विदेशी मशीन से बुने, सस्ते कपड़ों का चलन बढ़ा और देशी हस्तनिर्मित एवं मंहगे वस्त्रों की खपत कम हो गयी। विलियम होल के शब्दों में ''इस समय यहाँ हथकरघा उद्योग विकसित अवस्था में थे। अंगेजों की व्यापारिक नीति के कारण ये उद्योग समाप्त प्रायः हो गये।[17]

अवध की हस्तशिल्प कला

हस्त शिल्प कला का क्षेत्र बड़ा व्यापक है, कुछ विद्वान लखनऊ को सूती वस्त्र कुटीर–उद्योग, जिसमें जामदानी, जरदोजी, कामदानी, एपलिक, चिकनकारी आदि, को भी हस्त शिल्प कला के अन्तर्गत समाहित करते हैं। अवध के कलाकारों, शिल्प कारों एवं दस्तकारों ने कला के अन्य क्षेत्र में भी अपना कौशल दिखाया, जिसमें बीदरी पात्र, मिट्टी के पात्र एवं खिलौने तथा सिक्के आदि प्रमुख हैं।

बीदरी पात्र

धातु के विशिष्ट प्रकार से तैयार किये गये पात्र को ''बीदरी के पात्र'' की संज्ञा दी गयी है। इसे बीदरी इसलिए कहते हैं क्योंकि यह दक्खिनी राज्य में ''बीदर'' नामक स्थान से आरम्भ हुई। इस विशिष्ट किस्म में विशेष तरीके से धातुओं की जमावट की कला है। ''बीदर'' हैदराबाद के उत्तर पश्चिम में लगभग 75 मील की दूरी पर स्थित एक स्थान है। कहा जाता है कि बीदर के हिन्दू राजाओं में से किसी ने इस कला का अविष्कार किया, जो इस तरह की पात्र में अपने गृहदेवता को चढ़ाने के लिए पुष्प व अन्य वस्तुयें रखा करता था। धीरे–धीरे उसके उत्तराधिकारियों ने इसकी संरचना में उल्लेखनीय प्रगति की, किन्तु 17वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी तक मुस्लिम शासकों के आधीन यह कला अपनी चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई।[18]

लखनऊ में इस कला का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ, यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता। किन्तु बीदर से धीरे–धीरे यह कला अन्य स्थानों पर पहुँची जिनमें से प्रमुख थे–लखनऊ, बनारस, पूर्णिया और कश्मीर। इस पात्र को तैयार करने का विशिष्ट तरीका है और सभी स्थानों पर उसी तरह से इस तैयार किया जाता है। एक बर्तन को तैयार करने में तीन व्यक्ति भागीदारी करते हैं। सर्वप्रथम साँचें में ढालने वाला व्यक्ति, धातु का मिश्रण तैयार करके उसे साँचे ढालकर एक विशिष्ट आकार प्रदान करता है और उस पर हथौड़े एवं तार के गुच्छे से अलंकारों का डिजाइन तैयार करता है। काटने वाला व्यक्ति डिजाइन पर सोने–चाँदी व पीतल के उसी आकार के टुकड़े काटकर उन साँचों में जड़ देता है। उन टुकड़ों को अच्छी तरह जमाने के लिए हथौड़ी से धातुओं के बाहरी उभरे किनारों को अन्दर की ओर दबा दिया जाता है। उसके बाद अन्त में एक विशेष प्रकार का स्थाई काला रंग पात्र के बाह्य धरातल पर लगा दिया जाता है, किन्तु जड़ाऊ धातुओं को वैसा ही छोड़ देते हैं। इस काले रंग को चढ़ाकर बर्तन को कई घण्टों तक छाया में हवा द्वारा सुखाया जाता है। जब तक रंग अच्छी तरह सूख कर धातुओं पर चढ़ जाता है तब तेल से पोंछकर पात्र को साफ कर लेते हैं।

इस बीदरी के काम का प्रमुख आकर्षण पात्र की काली सतह पर सोने–चाँदी पीतल व अन्य चमकीली धातुओं का जड़ा होना है। गहरी काली–मखमली सतह पर धातुओं के प्रकाशमान बेलबूटों का अलंकरण विशेष आकर्षक प्रतीत होता है। इस पात्र में सर्वाधिक विशिष्ट बात यह है कि धातुओं के प्रकाशमान टुकड़ों से इतनी

बेलकारी या अलंकरण पशु–पक्षी, फल–फूल आदि बनाये जाते हैं।[19]

अवध के बीदरी पात्र

बीदरी के बर्तनों में मुख्य रूप से हुक्का–धरातल देखने में आता है। इसके अतिरिक्त सुराही, पीकदान, पानदान, प्याले, फूलदान, तश्तरी, ट्रे, जार, एशट्रे, इत्रदान, कटोरी, घड़ा आदि बीदरी के कामयुक्त बनने वाले पात्र हैं। इस काल में पहले फूलों के अरबक्स और बूटियाँ, फूलों की डिजाइन, प्रकृति के दृश्य एवं फूलों की चलती हुई बेले विशेष रूप से बनायी जाती थी जब बीदर या अन्य स्थानों पर यह कला अपनी उत्कृष्टता खो रही थी, अवध के नवाबों ने इस प्रश्रय दिया और लोकप्रिय बनाया। लखनऊ में यह कला 18वीं शताब्दी में उत्तरोत्तर विकासमान रही, किन्तु अन्य दस्ताकारी उद्योगो के साथ यह बीदरी की कला और इसका उद्योग भी अवनित को प्राप्त हो गया।

मिट्टी के पात्र

पात्रों के जिक्र छिड़ने पर यह उल्लिखित करना आवश्यक हो जाता हे कि लखनऊ के समाज में अपनी जरूरत और कद्रदानी से किन –किन चीजों को तरक्की दी और कौन सी कलाओं का यहाँ विकास हुआ। इस सिलसिले में सर्वप्रथम मिट्टी के बर्तनों का वर्णन करना समीचीन होगा। मिट्टी के बर्तन दुनिया की पहली ईजाद है। मिश्र में फिरउनो के समय में मिट्टी के बर्तन और काबुल मे खाने पीने के बर्तनों के साथ बहुत ही पक्की ईटें बरामद हुई है। दिल्ली से मुसलमान अमीर मिट्टी के बर्तन बनाने वालों को अपने साथ लखनऊ ले आये। मिट्टी के बर्तन बनाने वाले मुस्लिम कारीगर को कासगर कहते है। अवध के नवाब एवं कद्रदानों की बदौलत उनके उद्योग की यहाँ और प्रगति होने लगी। अतः कुम्हार और कसगर दोनों ने अपने काम में वही चतुरता और कौशल दिखाना शुरू किया जो एक चित्रकार चित्र बनाने में और कवि कविता रचने में दिखाया करता है।

सौभाग्यवश लखनऊ की मिट्टी इस शिल्प के लिए बहुत मुफीद साबित हुई, जिसने कारीगरों को बर्तन और खिलौने बनाने में अपना कौशल दिखाने का मौका दिया। बर्तनों में तो यह प्रगति हुई कि ऐसे हल्के बारीक और साफ एवं साथ ही खूबसूरत बर्तन यहाँ बने कि कहीं और नहीं बन सकते। आम चीजों में लखनऊ के घड़े और बघनियाँ सारे हिन्दुस्तान के घड़ों और बाघनियों से हल्के और खुशनुमा होते है। घड़ों की गोलाई पूरी होती है बघनियाँ ताँबे के लोटों की शक्ल से बहुत मिलती जुलती होती है। आबखोरे पानी पीने के बर्तन है , मिट्टी के आबखोरों में एक ऐसी खूशबू होती है, जिसमें आत्मा को शीतलता प्राप्त होती है और जिसके शौक ने यहाँ मिट्टी का इत्र ईजाद करा दिया। अवध में नाजुक हल्के पतले आबखोरे बने जो कागजी कहलाते हैं। यह इतने बारीक होते है कि शीशे के गिलासें की नजाकत का भी यहाँ के मिट्टी के आबखोरों की बारीकी में मात कर दिया। आबखोरों के बाद पानी रखने और उसको ठंडा करने के बर्तनों में सुराहियाँ हैं। लखनऊ की सुराहियाँ मिट्टी की खूबी और कारीगरों की सुरुचि के कारण बढ़िया, कागजी और बहुत हल्की हो गयी।

हुक्कों को भी ठंडक की बहुत ज्यादा जरूरत होती है। मिट्टी के कागजी हुक्के यहाँ ऐसे नफीस और खुशनुमा बनने लगे कि कहीं और नहीं बन सकते। फिर नये अनवासे हुए कोरे हुक्कों से धुयें में ठंडक और नफासत के साथ कोरी मिट्टी की ऐसी नफीस खुशबू पैदा हो जाती है कि शाही जमाने में बहुत से बड़े–बड़े रईसों को सिवाय उनके किसी हुक्के में मजा ही न आता था। पकाने की हाँडिया हर जगह बनती है मगर लखनऊ की मिट्टी की हाँडिया ताँबे की पतीलियों की सच्ची नकल है। इनमें अब अक्सर नाजुक मिजाज अमीर गिलौरियाँ भी रखते हैं। गर्मी के मौसम में पानदान में गिलौरियाँ भी बहुत गर्म हो जाती है। मगर इन हाँडियों में वे ऐसी ठंडी रहती है।और उनमें ऐसी सौंधी खुशबू पैदा हो जाती है कि बहुत ही आनन्दप्रद होती है।

अवध के कासगरों, कुम्हारों एवं शिल्पकारों ने बर्तनों से भी ज्यादा कमाल खिलौने और मिट्टी की मूर्तियों में दिखाया है। वे इंसान को देखकर उसकी पूरी मूर्ति उतनी ही बड़ी जितना कि जिस्म हो तैयार कर देते है। फिर छोटी मूर्तियों में हर वर्ग और हर प्रकार के लोग ऐसी तस्वीरें बनाते हैं जो असल के बिल्कुल मुताबिक हो। उनकी इस कलाकारिता से उनकी काव्यगत क्षमताओं का और मधुर कल्पनाओं का भी बोध होता है। दीपावली में हिन्दू बहुत खिलौने खरीदते और बाँटते है और इसी जरुरत से हर साल इस मौसम में यहाँ के कुम्हारों को अपनी शिल्प में नई–नई ईजादों और नाजुक ख्यालों को जाहिर करने का मौका मिल जाया करता है। कुम्हारों ने

जो मूर्तियों के भाँति–भाँति के ग्रुप और सेट तैयार किये है। वे वास्तव में दर्शनीय हैं। अंग्रेजी बैड, भाँडो के गिरोह पुराने नवाबों की महफिलें अमीरों के दरबार और शिल्पियों के गिरोह विशेष रुप से उल्लेखनीय हैं। एक बार प्रर्दशनी के अवसर पर यहाँ के एक कुम्हार ने एक हिन्दुस्तानी गाँव बनाया था, जिसमें आबादी के अन्दर दुकानो और मकानों के बीच विभिन्न प्रकार के लोगों को चलना फिरना बैलगाड़ियों का गुजरना, खेत जोतते दुबले पतले किसान एवं बाजार का दृश्य अत्यन्त वास्तविक प्रतीत होते थे। इसी तरह शाही जमाने के लखनऊ की एक तस्वीर भी बनी जिसमें उस समय की आबादी और गलियों और पुलों का नक्शा दिखाया गया था।[20]

सिक्के

अवध के राजवंश का प्रारम्भ वजीर सआदत खाँ से हुआ था। नवाब वजीरों के इस शाहवंश ने स्थापत्य, लघुचित्र, मलमल जैसे उत्कृष्ट वस्त्र, चिकनकारी की बेहतरीन कला और बिदरी जैसे पात्रों की कला, अमूल्य थाती के रूप में हमें प्रदान की, साथ ही अपने राजवंश को गौरव प्रदान करने के उद्देश्य से उन्होंने राजचिन्ह अंकित अपने सिक्के भी ढलवायें।

नवाब युगीन अवध के सिक्के

वजीर सआदत खाँ और सफदरगंज के बाद जब शुजाउदौला सन् 1754 ई 0 में गद्दी पर बैठा , तब दिल्ली के बादशाह ने उसे बनारस और मुहम्मदाबाद के टकसाल का प्रबन्ध सौंपा ,किन्तु लखनऊ में सिक्के ढालने का कार्य नवाब आसफुदौला के शासनकाल में प्रारम्भ हुआ। कहते हैं कि जब सआदत खाँ लखनऊ पर अधिकार करने के उद्देश्य से यहाँ आया तो रास्ते में गोमती पार करते समय उसकी गोद में उछलकर मछली आ गयी। सआदत खाँ ने मछली को अपने लिए शुभ मान लिया था।। सन् 1784–1818 ई0 तक लखनऊ के टकसाल में जो रुपये तैयार किया गया, उसपर शुभ का प्रतीक ''मछली '' को अंकित किया गया। इसे इसी कारण ''मछलीदार रुपया'' कहा गया था।[21]

बादशाह गाजीउद्दीन हैदर ने जब अवध का शासन सम्भाला , तब उन्होंने अपने सिक्के ढलवाने प्रारम्भ किये। इन सिक्कों के अग्रभाग में अस्त्रों का अंकन था जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अस्त्रों की नकल थे। अस्त्रों के ऊपर ''जुलूस'' और मध्य भाग में ''सन् 26'' लिखा था। दूसरी तरफ लेख खुदे थे और ''1234'' का अंकन था। ये सिक्के सन् 1819 ई0 के हैं। इसके दूसरे वर्ष ही गाजीउद्दीन हैदर ने अपने नाम से सिक्कों का ढलवाना प्रारम्भ कर दिया। इसके पूर्व दिल्ली के बादशाह (शाहआलम) के नाम से सिक्के निकलते थे। सन् 1820 ई0 में जो सिक्के ढले , उनमें एक तरफ ''गाजीउद्दीन हैदर अली'' नस्ब शाहजमन 1235 लिखा है।[22]

मुहम्मद अली शाह के शासनकाल में सिक्कों की डिजाइन में परिवर्तन हुआ, जिसके अग्रभाग में दो स्त्री–आकृतियों को एक ताज को सम्भालते हुए दिखाया गया है। आकृतियों के चारों ओर लिखा है – ''जुलूसे मैम्नते आनूसे जबें अवध दारुल सल्तनत लखनऊ'' और दूसरी तरफ ''आहद (सन् एक) बेजूदोकर्म सिक्के जद दर जहान मुहम्मद अली बादशाहे जमान, 1254''।[23]

नवाब वाजिद अली के 18वें वर्ष के जो सिक्के प्राप्त होते है , वे अवध के सिक्कों में सर्वाधिक सुन्दर माने जाते हैं। ये पाँच प्रकार के होते है।[24] शाह ने जो अपना सिक्का ढलवाया, उस पर लिखा था ''अहद जुलूस मैम्नतेमानूस जबें मुल्के अवध बैतुसल्तनत जबे मुल्के अवध बैतुसल्तनत लखनऊ'' साथ ही यह शेर भी खुदा था, ''सिक्के जद वरसीमोजद अजफज्लेताईदे इलह, जिल्ले हक वाजिद अली सुल्ताने आलम बादशाह–1263''।[25] सिक्के के दूसरी तरफ एक ताज का चित्र था , जिसके ऊपर एक छतरी थी, जिसके दोनों तरफ देा झन्डियाँ खड़ी थी। उनके दो अर्ध नारी मछली –आकृतियों ने एक –एक हाथ से सहारा दे रखा है। उनके हाथ में चंवर है और भुजाओं में पंख बने हुए है। इन ताज के नीचे एक किले की अलामत है। और वह दो तलवारों पर टिकी है।

निष्कर्ष

अवध का क्षेत्र अपनी सांस्कृतिक एवं राजनीतिक उर्वरकता के लिए विख्यात रहा है। अवध प्राचीन काल से धर्म की नगरी रहा है, यहाँ एक धर्म नहीं बल्कि कई धर्मों का संगम दिखाई देता है। यह मुख्यतः राम का नगर कहा जाता है, लेकिन यहाँ वैदिक धर्म से लेकर बौद्ध धर्म, जैन धर्म, बम्हण धर्म, सन्त धर्म सभी का समन्वय दिखाई देता है। यह परम्परा मध्य एवं आधुनिक काल में भी बनी रही। अवध में मुस्लिम नवाबों के शासन और बाद में अंग्रेजों के शासन में यहाँ का कला और उद्योग पर प्रभाव डाला, यहाँ के स्थापत्य कला, कुटीर–उद्योग एवं हस्त शिल्प में भारतीयता के साथ इस्लामी एवं पाश्चात्य तत्वों के दर्शन होते हैं। मुगल शासन के पतन के साथ, राजाश्रय प्राप्त कलाकारों, चित्रकारों, शिल्पकारों–दस्तकारों ने नवीन आश्रय की खोज में अवध की ओर कूच किया। अवध की गंगा–जमुनी संस्कृति ने इन कलाकारों को न केवल आश्रय प्रदान किया बल्कि मिली–जुली संस्कृति के अनुरूप कलात्मक अभिव्यक्ति का अवसर भी प्रदान किया। इस कला की सूती वस्त्र, कुटीर उद्योग, हथकरघा उद्योग, धातु के कलात्मक पात्रों, मिट्टी के खिलौनों और बर्तनों

तथा सिक्कों के रूप में अभिव्यक्ति हुई। इसमें से बहुत सी कलात्मक वस्तुओं में अवध की लोक–कला प्रतिबिम्बित होती है। अपनी विकास यात्रा में नवाब युगीन अवध के कुटीर उद्योग एवं हस्त शिल्प कला में मूल रूप में भारतीयता एवं विशेष रूप में अवध की संस्कृति की छाप स्पष्ट दिखाई देती है।

अंत टिप्पणी

1. *आर्शीवादी लाल श्रीवास्तव : "अवध के प्रथम दो नवाब", प्रथम हिन्दी संस्करण, 1943, आगरा, पृ0 सं0 276*
2. *देवकी अहिवासी : "मलमल जामदानी" संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका अंक–1, चित्रा–1, वाराणसी–1977 पृ0 सं. 14*
3. *सी0 एम0 जार्ज : "दि इण्डस्ट्रियल आर्टस ऑफ इण्डिया" वर्ड बुक 1880, पृ0 सं0 239.*
4. *पुपुल जयकर : कॉटन जामदानी ऑफ टाण्डा एण्ड बनारस" ललित कला नं. 06 अक्टूबर 1959, पृ0 सं0 37–38.*
5. *पुपुल जयकर : वही, पृ0 सं0 39.*
6. *देवकी अहिवासी : पूर्वोक्त, पृ0 सं0 47,*
7. *देवकी अहिवासी : वही, पृ0 सं0 48,*
8. *देवकी अहिवासी : वही,*
9. *अमीर हसन : " पैलेस कल्चर ऑफ लखनऊ" बी0 आर0 पब्लिशिंग कार्पोरेशन" नई दिल्ली, अगस्त–2012, पृ0 सं0 138*
10. *पुपुल जयकर : पूर्वोक्त, पृ0 सं0 40*
11. *देवकी अहिवासी : पूर्वोक्त, पृ0 सं0 48–49*
12. *दि डिस्ट्रिक गजेटियर ऑफ यू0 पी0 (आगरा एण्ड अवध) 1960, पृ0 सं0 49.*
13. *देवकी आहिवासी : पूर्वोक्त, पृ0 सं0 49.*
14. *अमीर हसन : पूर्वोक्त, पृ0 सं0 172.*
15. *योगेश प्रवीण : " चॉदनी के बूटे – लखनऊ का चिकन" "धर्मयुग", 18–24 मार्च 1984 पृ0 सं0 50.*
16. *योगेश प्रवीण : वहीं, पृ0 सं0 51.*
17. *देवकी अहिवासी : "मलमल जामदानी" पूर्वोक्त, पृ0 सं0 49.*
18. *टी0 एन0 मुखर्जी : "आर्ट मैनुफैक्चर्स ऑफ इंडिया", कलकत्ता, 1888, पृ0 सं0 181.*
19. *जगदीश मित्तल : "इण्डो इस्लामिक मेटल एण्ड ग्लासपेपर : इन ऐज ऑफ स्प्लैण्डर", बाम्बे 1983, पृ0 सं0 60–71 (मार्ग 1983)*
20. *अब्दुल हलीम 'शरर' : "गुजिश्ता लखनऊ" 1890, लिप्यात्तरणकार श्रीमती हुमेरा सिद्दीकी, लखनऊ पृ0 सं0 325–326*
21. *वासुदेव उपाध्याय : "भारतीय सिक्के" भारतीय दर्पण ग्रंथालय, प्रयाग, 1970, पृ0 सं0 248.*
22. *डब्लू0 एच0 वालेटिना : "दि कॉपर क्वाइन्स ऑफ इण्डिया" पार्ट–1, लन्दन, 1914, पृ0 सं0. 116.*
23. *डब्लू0 एच0 वालेटिना : वही, पृ0 सं0 248.*
24. *वासुदेव उपाध्याय : पूर्वोक्त, पृ0 सं0 248.*
25. *डब्लू एच0 वालेटिना : पूर्वोक्त, पृष्ठ संख्या 118*